IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

केदारनाथ सिंह की कविता में ग्राम्य संस्कृति और समाज

डॉ. सुनीता दुरंगल

सीनियर ऐसोसिएट प्रोफेसर

हिन्दी विभाग

दौलत राम कॉलेज,

दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ल्ली

मानवीय सभ्यता, संस्कृति, तहजीब, परंपराओं, मान्यताओं के इतिहास पर नज़र डाले तो नजर आती है जंगलों में भटकते आदिम-मानव की ओर, जिसके पास न शब्द थे न लिपि थी, न भाषा कोई, वह भटक रहा था जंगल-जंगल कभी इस नदी किनारे तो कभी दूर किसी गुफा में, वह खुद को बरसात में भीगते भीगते छिपने के लिए खोज लिया करता था, आहिस्ता, आहिस्ता उसने समूहों में रहना शुरू किया और फिर बसा एक घर एक गाँव- एक ऐसा गाँव जिसे छोड़ कर वह दूर-दराज भोजन तो कभी शिकार की खोज में निकल जाया करता, और लौटकर आता तो वहाँ, न वह उस घर को खोज पाता न गाँव को कभी तूफानी रातें उजाड़ देती तो कभी जंगली खुँखार जानवर रौंध डालते। वह फिर बनाता एक घर और गाँव- यही सिलसिला उसे बसाता उजाड़ता गया किंतु एक ऐसा भी समय आया- जब उसने अपने गाँव को उजड़ने से बचा लिया और फिर आ बसी उसी गाँव उसके घर में उसकी खुशियाँ, उसके डर अब दरकिनार होने लगे वह आदिम प्रवृत्तियों से उभर रहा था और पहचान रहा था, प्रेम को और बोल रहा था, 'प्यार की भाषा'। जिससे सिमटने लगी उसकी पहचान, उसकी संस्कृति यही उसका समाज था यही उसकी संस्कृति थी, सभ्यता का विकास हो रहा था और साथ ही ग्राम्य संस्कृति का भी। तब जो गाँव बस रहा था। उस गाँव के साथ-साथ पनप रही थी- ग्राम्य संस्कृति जिसमें पनपने लगी- प्रथाएँ, आस्था विश्वास मान्यताएँ, संस्कार जीवन मूल्य, रीति-रिवाज, नैतिकता जो बना रहे थे अपना एक स्वतंत्र अस्तित्व यही वह गाँव था जिसने बदल दी उस आदि-मानव की सोच और जीवन पद्धतियाँ- सोच ने, समझने, अनुभव करने के तरीकों में आहिस्ता, आहिस्ता परिवर्तन आ गए और बस गई एक पूरी की पूरी ग्राम्य संस्कृति। सिंधु घाटी सभ्यता, हड़प्पा मोहनजोदड़ो, मेसोपोटामिया, मिस्र जैसी प्राचीनतम सभ्यता, संस्कृतियों में नजर आता है एक गाँव- जिन्हें बर्बर, खुंखार जातियों ने उजाड़ दिया, वे उजड़ाते गए और उजड़ते रहे गाँव, किंतु अंत में फिर बस जाता एक गाँव- जो शहरों से अलग बेहद खुबसूरत था, जिसकी अपनी एक भाषा थीं, अपनी मान्यताएं, अपने संस्कार, अपने गीत, पर्व-उत्सव- कला, नृत्य, परंपराएँ और भी बहुत कुछ जो शहरों में नहीं था- जो सुकुन गाँव में था वह शहर की भागती ज़िंदगी में नहीं, शहरों की अपनी-

अपनी उलझनें, बेचैनियाँ थी बौखलाहटें थी, तकलीफें थी- पर गाँव में यह सब कही नहीं था वहाँ सिर्फ और सिर्फ सुकुन, प्यार और नजदिकियाँ थी।

ग्राम्य संस्कृति भारतीय संस्कृति का अभिन्न हिस्सा ही नहीं अपितु भारतीय सभ्यता की नींव है, शहरों ने इसी संस्कृति से इंसान को इतना दूर किया कि वह स्मृत्तियों में एहसास भर बन कर रहने लगा जब गाँव छोड़ शहरों में बसने लगा इंसान। केदारनाथ सिंह अपनी कविता में इसी गाँव, इसी ग्राम्य संस्कृति को बचा लेते हैं। जिसकी सोंधी-सोंधी मिट्टी की गंध उन्हें शहर में भी हर पल याद आती है।

केदार जी की कविताओं में बसा हुआ नज़र आता है एक गाँव एक ऐसा गाँव-जो ताउम्र उन्हें अपनी ओर बुलाता रहा, वे जब-जब अपने गांव लौटते तो जी लेते उसके हर संस्कार उसके हर एहसास उसकी भाषा को। वे जे.एन.यू. में भले ही पढ़ाते रहे लकिन वह जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय भी उनके लिए किसी गाँव से कम नहीं था, वे अक्सर कहा करते- 'शहर के क्या हाल है'- दिल्ली उनके लिए शहर और जे.एन.यू. का पूर्वांचल जहाँ वे काफी लंबे समय तक रहे- गाँव का सा ही था। केदार जी की कविता में ग्राम्य संस्कृति उससे जुड़ी असंख्य यादें घटनाएँ सिलसिलेवार ढंग से रची-बसी नजर आती हैं जिसके सुखद अहसास उन्हें अपनी ओर बार-बार बुलाते हैं केदार जी के कविता संग्रह 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखी', 'अकाल में सारस', 'आँसूं का वजन', उत्तर कबीर तथा अन्य कविताएँ, ताल्सताय और सायकिल, में जो गाँव व गाँव की संस्कृति बसी नज़र आती है उसका अपना अलग ही अंदाज हैं 'जिसे वे गढ़ देते हैं'- ठेठ भाषा में- केदार जी मिट्टी से जुड़े हुए रचनाकार रहे हैं 'वह मिट्टी जो शहरों में नहीं मिलती- जिस मिट्टी से वे जुड़े वह उनके गाँव की मिट्टी है। जिस ग्राम्य संस्कृति की बात वे करते हैं 'वह शहरों में नहीं' है। शहर भले ही आकर्षित करते रहे हैं पर गाँव में जो है 'वह शहरों में कहाँ' ऐसा केदार जी का मानना था। शहर कचोटता है- शहरों में खालीपन है, शहरों में बसता है अजनबीपन, अकेलापन, पर गाँव में यह सब कही ढूंढे से भी नहीं मिलता। शहर दूरियों के एहसास से भरे हैं और केदार जी की कविता का ग्राम्य समाज वह गाँव, नजदीकियों की कहानी रच रहा है। ग्राम्य संस्कृति का लोक दे जाता है- एक अपनापन जो शहरों में नहीं है ऐसा ही केदार जी का भावलोक है जो रच रहा है एक ग्राम्य संस्कृति की कहानी अपनी हरेक कविता में।

केदार जी की कविताओं में नज़र आता है वह गाँव जहाँ दूर-दूर तक फैले है गेहूँ, धान के खेत ही खेत, मक्के के खलिहान, कटी फसलें, मिट्टी की कच्ची पगडण्डियाँ, धान की सूखी पत्तियों की गंध, गीत गाती गुनगुनाती नदियाँ, बबूल के पेड़, उन पेड़ों की छाँह तले पड़े सुस्ताते मजदूर, रसरों के फूल काले-काले कौए, चूल्हों में आती आंच, बोझे, जिद्दी चीलें, चीटें लाल-लाल चीटियाँ, कठफोड़वे, धान की मंजरियाँ, जलकुंभी, दियासिलाई, काठी, अंधेरी रातें, तंबयाई धूप, बालू, कछार में डूबते हुए दिन,उड़ते बगुले, चमकती बिजलियाँ, सर्द रातें, मौसमों की नमी, सर्द हवाएँ, दूब, सारस, किसान, मंडी जाने से इंकार करते दाने, हल्दी सी सांझ, फागुन, फागुन के फुल, दुपहरिया, नीम, गडरिये, कुम्हार, बढ़ई, धोबी, नाई, मूंज की रस्सियाँ, पुआल की गंध, आम गुठलियाँ, भुने हुए चने, चिलमें- आग मिट्टी के ढेले, लकड़ी की गंध, भुनते हुए आलुओं की गंध, तम्बाकू के खेत, घास के गट्ठर भूसे की गंध, हल्दी की गंध, हंसती सुबह, सूखी जलघासें, सिहरते जलाशय, भीगे खपरैल, पडरौना के बाजार, मल्लाह, हजाम, पकती जमीन, बालू का स्पर्श, कंटीली झाड़ियाँ, कपास के फूल, महुआ जो टपक रहा था, बाँस बबूल, सेहुँड के फूल,चकवड़ घास, पागल बौराई हवा, वन-सुग्गों की पांखें, सूने टीले, पूरव की धुन्ध, पपीहे, पोखर, झींगुर, कुहासा, बरसते मेह, जुते खेत, गेहुँअन साँप, चिलबिल, ठिठुरती रातें। वे खुद से सवाल करते हैं- 'एक बूढ़े पक्षी की

तरह लौट-लौट कर/ मैं क्यों चला आता हूँ बार-बार ? - 'गाँव आने पर' कविता में यह सवाल खुद से पूछता है केदार जी का कवि। सिर्फ इतना ही नहीं केदार जी की कविता में ग्राम्य संस्कृति के साथ-साथ उनका भोजपुरी बोली के साथ गहरा संबंध भी अनायास उभर कर सामने आता है वे एक गाँव को जी लेते हैं भोजपुरी के साथ-साथ, उन्हें भोजपुरी की क्रियाएँ खेतों से आई लगती हैं, संज्ञाएँ पगडंडियों से, कौंधती बिजलियों और टपकते महुए के स्वर ध्वनियों का निर्माण करते हैं वे महसूसते हैं इतना ही नहीं- वे शब्दों को दानों सा मानते हैं। यही है उनका गाँव- जो खेतों, पंगडंडियों, कौंधती बिजलियों, टपकते महुओं और दानों से बना है। गाँव केदार जी के यहाँ नास्टेलिज्या के रूप में वरन अपनी पूरी सच्चाईयों के साथ मौजूद है। गाँव और गाँव के जीवन, एहसासों से वे शहर में रहकर भी अलग नहीं हो पाए, गहराईयों तक समाया गाँव और ग्राम्य संस्कृति आस्था, विश्वास, रीति-रिवाज त्यौहार हाठ बाजार, परंपराएँ, मान्यताएँ रस्में, सभी केदार जी कविता का स्वर हैं। चकिया, पडरौना, बनारस, गोरखपुर बस्ती सभी इलाकों की न जाने कितनी ही यादें व सच्चाईयाँ, जो केदार जी को गाँव और ग्राम्य संस्कृति से बांधे हुए हैं।

दूर तक फैले खेत, फसलों का कटना, बोझों का बंधना और फिर मंडी जाने के लिए खलिहान से उठते दानों का इंकार बेहद नजदीक ले जाता है- ग्राम्य समाज के- जैसे कहते हैं दाने-

'नहीं हम मण्डी नहीं जायेंगे

खलिहान से उठते हुए

कहते हैं दाने

अगर आये भी

तो तुम हमें पहचान नहीं पाओगे (आँसू का वजन, पृष्ठ 28)

अजब सा लगाव नजर आता हैं यहाँ गाँव से जुड़े होने के साथ-साथ दानों के जरिए केदार जी गाँव की जमीं से अलग होने के दर्द को भी बयां कर रहे हैं- शहरों में बिकते गेहूँ, धान के ये दानें क्यों डर रहे हैं मंडी जाने से- ये सवाल उठ रहा है यहाँ? यही सवाल दानों के जरिए मानवीय पहचान का संकट बनकर उभर रहा है, जो अब तक अपनी मिट्टी अपने खेत खलिहान से बंधा था वही अचानक अपनी पहचान को स्थापित करने का युद्ध लड़ रहा है खुद से- दानों के जरिए। गाँव में सब पहचानते थे पर शहर-शहरों ने इंसान से इंसान की पहचान तक छिन ली- यही डर यहाँ- दानों का डर बनकर सामने आता है।

झरते नीम के पत्ते, बुझते खेत, झुर-झुर सरसों की रंगीनियाँ, धूसर धूप, सुनसान बीतता पहर, ठुकराये शीशम, चिलबिल, बाँस वनों की चरमर ध्वनियाँ, थकी सी, दुपहरिया और बीतती ठिठुरन भरी गाँव की राते, पके ज्वार के दूर तक फैले-खेत ही खेत, चरती गायें- सब तो हैं केदार जी की गाँव से जुड़ी कविताओं में और शहरों में 'हर नाम एक घोंसला है/ जिसमें कोई चिड़िया अंडा नहीं देती। (आँसू का वजन- पृ. 29) लेकिन यदि गाँव पर निगाह डालें तो केदार जी की कविता में- 'कौए भी उड़ते हुए सुंदर लगते हैं- वे गाँव के कौओं में भी सौन्दर्य खोज लेते हैं। क्योंकि कौओं के काँव-काँव में भी एक संगीत है जीवन का उद्दाम संगीत जो गाँव में ही महसूसा जा सकता था, शहरों में तो व्यक्ति-व्यक्ति से अनजान छटपटाहटों,

परेशानियों, बौखलाहटों की जिंदगी जी रहा है। वे गाँव में रहकर कभी गिलहरी से बातें करते हैं तो कभी नन्हीं चिरई से, कमी मकई के खेतों में घुम आते हैं तो कभी महुआ वनों में कभी दूर उड़ते बगुले के साथ-साथ दिन डुबने से पहले घर लौट आते हैं। कभी गाते हैं मंगल माँझी से सुना 'लोकगीत'- 'एक लोकगीत की अनुकृति में- 'आम की सोर पर / मत करना वार / नहीं तो महुआ रात भर रोयेगा जंगल में / कच्चा बाँस कभी काटना मत / नहीं तो सारी बाँसुरियाँ / हो जायेंगी बेसुरी- (आँसू का वजन- पृ. 36)

ये सब गाँव और गाँव की संस्कृति से जुड़ी अवधारणाएँ, विश्वास, मान्यताएँ या महज लोकगीत, लोक विश्वास, लोक धुने ही नहीं है अपितु यहाँ बसी हैं गाँव की सारी की सारी भावभूमियाँ जो बेहद मासूम, बेहद नाजुक बेहद सुंदर है। केदार जी का कवि समेट रहा है भारतीय सभ्यता-संस्कृति में रचे बसे गाँव के विश्वासों- मान्यताओं को- जो आज आधुनिकता के उत्तर आधुनिकता वादी दौर में अपनी पहचान खोते जा रहे हैं किंतु केदार जी की कविता बचा लेती है उन लोक विश्वासों, लोकगीतों, लोकधुन को उनकी गाँव से जुड़ी पृष्ठभूमि के साथ। गाँव के ये विश्वास एक पिता ने पुत्र को सिखा दिए है। वे कहते हैं- अगर कभी लाल चीटियां दिखाई पड़े / तो समझना, आँधी आने वाली है / स्यारों की आवाजें सुनाई न पड़े तो समझ जाना / बुरे दिन आने वाले हैं। यह विश्वास ग्राम्य संस्कृति में ही समाए हैं- अगर अंधेरे में रास्ता भूले तो ध्रुवतारें पर नहीं, दूर से आती कुत्तों के भौकने की आवाजों पर भरोसा करना, वुध के रोज उत्तर से कभी नहीं जाना और इतवार को पच्छिम। ये विश्वास केदार जी की कविता व उनके समय के सच के रूप में नजर आ रहे हैं जिन्हें आज का शहरी इंसान शायद ही समझ पाए- केदार जी इन विश्वासों, मान्यताओं के जरिए बचा लेना चाहते हैं- गाँव की तहजीब को जो आज भी गाँवों में जमीं में फैले, नजर आती है। शहर जैसे-जैसे बसते गए ये विश्वास भी खत्म हो रहे हैं पर केदार जी की कविता के विश्वास गाँव और गाँव का समाज, संस्कृति कभी खत्म नहीं होता। वह तो ज्यों का त्यों बसा हुआ है वे कहते हैं- गाय थी / किसान था / रास्ता था / सिर्फ हमीं भूल गये थे / जाना किधर हैं - (आँसू का वजन, पृष्ठ 40)

इतना ही नहीं केदार जी की कविता में वे भी मौजूद है जो गाँव में रहते हुए उनके भाव लोक का हिस्से बने। बंसी मल्लाह, बूढ़ा चैकीदार, भेडों वाला झपसी, मंगल मांझी, हल चलाता लालमोहर, सनझू हज्जाम और वे सभी जो 'बस्ती' के लोग थे केदार जी की गाँव की कविता में खूब बातें करते नज़र आते हैं इतना ही क्यों केदार जी की कविताएँ जान लेना चाहती हैं मछलियों की भाषा को समझ लेना चाहती है सूँस और घड़ियाल क्या सोचते हैं और तो और कछुए को कैसा लगता था- 'माँझी का पुल'। वो माँझी का पुल जो बस्ती में आज भी अपने होने की गवाही दे रहा है। इसी तरह 'घास' अगर रौंधी गई तो यह भी केदार जी के लिए परेशानी का विषय है वे कहते हैं-

अगले चुनाव में

मैं घास के पक्ष में

मत दान करूँगा

कोई चुने या न चुने ('सृष्टि पर पहरा, घास', पृष्ठ 112)

घास ही क्यों गाँव में कँटीली झाड़ियों में नजर आने वाली झरबेरियाँ भी उन्हें पुरातन संगीत की कोई लय हो जो भूली सी है जैसी लगती हैं। महुआ से दोस्ती, आम को देव तुल्य मान लेना और बाँस बबूल-स्वजन परिजनों के रूप में गाँव की संस्कृति की कहानी रच रहे हैं केदार जी की कविताओं में। सेहुँड़ के फूल पूजा में रखे जए और छोटे से आंगन में तुलसी का होना केदार जी की कविताओं के गाँव का यथार्थ हैं। झर-झर-झर झरती सवेरे-सवेरे पत्तियाँ, कंकड, खर-पात, बन-सुग्गे, चिड़ियाँ, नील दिशाएँ साँझ के सूने टीले उन्हें अपनी ओर लगातार बुलाते रहे। इसी संदर्भ में अचानक नजर जाती है उस आँकुसपुर की ओर जहाँ धड़धडाती हुई ट्रेन, गुजरती है पर रुकती नहीं, रुकती सिर्फ दसबजिया हैः ये धड़धड़ाती गुजरती ट्रेन केदार जी के मर्म को खोल रही है जहाँ इंतजार है, धड़धड़ाती ट्रेन के गुजरने के बाद दसबजिया का है। ऐसा ही इंतजार गाँव में आने वाले डाकिये का है जो सिर्फ गाँव में एक ही रोज आता था, पूरे हफ्ते जिसके आने का इंतजार गाँव वाले किया करते, शहरों में शायद ही कोई करता हो डाकिये का इंतजार, शहरों में तो अखबार भी सुबह-सवेरे डाल जाते हैं अखबार वाले जिनका इंतजार कोई करता भी हो पर गाँव में अचानक महत्त्व का हो जाता है डाकिया- जिसकी राह गाँव वाले हफ्तों पहले देखने लगते हैं- गाँव का यह डाकिया अपने पूरे के पूरे वजूद को कविता में बचा लेता है जो ग्राम्य संस्कृति की सघनता-सूक्ष्मता का परिचायक है जहाँ शहरों का उथलापन नहीं है। गाँव ही है जो आज भी रिश्तों व संबंधों को बचा रहा है। इसी तरह 'टमाटर बेचती हुई बुढ़िया' कविता में न सिर्फ टमाटर महत्व के हैं अपितु टमाटरों के होने व बेचे जाने के क्रम में बुढ़िया भी काफी कुछ कह देती हैं जो टमाटरों में बहुत सी नदियाँ समेटे हैं, 'गहरे सुर्ख टमाटर / उनकी टोकरी में भरे हैं / घूप टमाटरों को / चाकू की तरह चीर रही है / टमाटर के अंदर बहुत सी नदियाँ हैं / और अनेक शहर जिन्हें बुढ़िया के अलावा / कोई नहीं जानता।

केदार जी की कविता में गाँव की रस्में, रीति-रिवाज भी अपनी अलग ही भूमिका निभा रहे हैं। यहाँ लोकगीतों के बीच में गुनगुनाई गाई जाने वाली मन-मनुहारें हैं, वही छेड़-छाड़, इल्जाम सभी नजर आते हैं।

लोक से जुड़ी रस्मों में विवाह में हल्दी लगने वाली रस्में, हल्दी की ओर ध्यान बरबस खींच ले जाती हैं वो 'हल्दी' जिसके हल्के-हल्के छींटें मार कर निमंत्रण पत्र-भेज दिए जाते हैं, जिसके बिना न वैवाहिक रस्में पूरी मानी जाती है, न खोंइछा भरता है और न ही चुभावन (केदार जी गाँव को इतने तक ही सीमित नहीं रहने देते, उनकी कविताओं में पूस की रातें, कार्तिक की शाम, अगहन की ठिठुरन, गुनगुनाता फागुन, नाचता बैसाख माह। अपने अलग ही अंदाज में गीत गा रहा है। जिनके होने के अहसास शहरों की भागमभाग में खो से गए है, पर केदार जी की कविता समेट लेती है पूरे के पूरे गाँव में रच बसी भारतीय लोक-संस्कृति, मान्यताओं 'रस्मों-रिवाजों, परंपराओं और अनुभूतियों को जो न सिर्फ उन्हें अपने समकालीन रचनाकारों से अलग करती है। अपितु नये को स्थापित करने वाले कवि के रूप में पहचान देती है। ऐसे में यह कहना अनुचित नहीं होगा कि केदार जी की कविताओं में रचा बसा गाँव सिर्फ एक गाँव नहीं अपितु एक ऐसा अहसास है जिनसे आज का उत्तर आधुनिकतावादी दौर का इंसान कट रहा है। गाँव की मिट्टी, गाँव के संस्कारों, मान्यताओं, परंपराओं से जोड़ने का प्रयास करती केदार जी की कविताएँ- उन्हें गाँव और गाँव की संस्कृति का कवि घोषित करती नज़र आती हैं- जैसे अनुरोध करते हैं वे-

आज शाम ....

सीधे धान की मंजरियों तक चले

हम सीधे वहीं पहुँचे

जहाँ चावल

दाना बनने से पहले

सुगन्ध की पीड़ा से छटपटा रहा हो (एक छोटा सा अनुरोध, पृष्ठ 12) अकाल में सारस

आधार सूची-

1. 'जमीन पक रही है', केदारनाथ सिंह, प्रकाशन संस्थान, पंचम संस्करण-2012
2. 'यहाँ से देखों', केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1999
3. 'अकाल में सारस', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण-1990,
4. 'उत्तर कबीर तथा अन्य कविताएँ', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, दूसरा संस्करण-1999
5. 'तात्सताय और सायकिल', केदारनाथ सिंह, राजकमल प्रकाशन, संस्करण- 2005
6. 'आँसू का वजन', केदारनाथ सिंह राजकमल प्रकाशन
7. 'मेरे साक्षात्कार', केदारनाथ सिंह, किताबघर प्रकाशन, संस्करण-2004
8. 'मेरे समय के शब्द', केदारनाथ सिंह, राधाकृष्ण प्रकाशन, 1993
9. 'कवि ने कहा', केदारनाथ सिंह, किताबघर प्रकाशन, 2014